जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

आचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी म.सा.

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में सात वक्षस्कारों के अन्तर्गत इतिहास एवं भूगोल संबंधी वर्णन उपलब्ध है। इसमें जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, कालचक्र, ऋषभदेव, विनीता नगरी, भरत चक्रवर्ती, गंगानदी, पर्वत, विजय, दिक्कुमारी, जम्बूद्वीप के खण्ड, चन्द्रादि नक्षत्र इत्यादि की चर्चा हुई है। आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी के प्रस्तुत आलेख में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के प्रमुख अंशों पर सुन्दर परिचय उपलब्ध है। यह आलेख आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर से प्रकाशित जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की प्रस्तावना से चयन कर संकलित है। **–सम्पादक**

नन्दीसूत्र में अंगबाह्य आगमों की सूची में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का कालिक श्रुत की सूची में आठवाँ स्थान है। जब आगम साहित्य का अंग, उपांग, मूल और छेद रूप में वर्गीकरण हुआ तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का उपांग में पाँचवाँ स्थान रहा और इसे भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र का उपांग माना गया है। भगवती सूत्र के साथ प्रस्तुत उपांग का क्या संबंध है? इसे किस कारण भगवती का उपांग कहा गया है? यह शोधार्थियों के लिये चिन्तनीय प्रश्न है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में एक अध्ययन है और सात वक्षस्कार है। यह आगम पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध इन दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध में चार वक्षस्कार हैं तो उत्तरार्द्ध में तीन वक्षस्कार हैं। वक्षस्कार शब्द यहाँ प्रकरण के अर्थ में व्यवहृत हुआ है, पर वस्तुतः जम्बूद्वीप में इस नाम के प्रमुख पर्वत हैं, जिनका जैन भूगोल में अनेक दृष्टियों से महत्त्व प्रतिपादित है। जम्बूद्वीप से संबद्ध विवेचन के संदर्भ में ग्रन्थकार प्रकरण का अवबोध कराने के लिए ही वक्षस्कार शब्द का प्रयोग करते हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के मूल पाठ का श्लोक प्रमाण ४१४६ है। १७८ गद्य सूत्र हैं और ५२ पद्य सूत्र हैं। जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग दूसरे में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को छठा उपांग लिखा है। जब आगमों का वर्गीकरण अनुयोग की दृष्टि से किया गया तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को गणितानुयोग में सम्मिलित किया गया, पर गणितानुयोग के साथ ही उसमें धर्मकथानुयोग आदि भी हैं।

प्रथम वक्षस्कार

मिथिला : एक परिचय–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का प्रारम्भ मिथिला नगरी के वर्णन से हुआ है, जहाँ पर श्रमण भगवान महावीर अपने अन्तेवासियों के साथ पधारे हुए हैं। उस समय वहाँ का अधिपति राजा जितशत्रु था। बृहत्कल्पभाष्य[१] में साढ़े पच्चीस आर्य क्षेत्रों का वर्णन है। उसमें मिथिला का वर्णन है। मिथिला विदेह जनपद की राजधानी थी।[२] विदेह राज्य की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में गंगा, पश्चिम में गंडकी और पूर्व में महीनदी तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थी। जातक की दृष्टि से इस राष्ट्र का विस्तार ३०० योजन था[3] उसमें सोलह सहस्र गाँव थे।[4] यह देश और राजधानी दोनों का ही नाम था। आधुनिक शोध के अनुसार यह नेपाल की सीमा पर स्थित था। वर्तमान में जो जनकपुर नामक एक कस्बा है, वही प्राचीन युग की मिथिला होनी चाहिए। इसके उत्तर में मुजफ्फरपुर और दरभंगा जिला मिलते हैं[5]।

जम्बूद्वीप—गणधर गौतम भगवान महावीर के प्रधान अन्तेवासी थे। वे महान जिज्ञासु थे। उनके अन्तर्मानस में यह प्रश्न उद्‌बुद्ध हुआ कि जम्बूद्वीप कहाँ है? कितना बड़ा है? उसका संस्थान कैसा है? उसका आकार/स्वरूप कैसा है? समाधान करते हुए भगवान महावीर ने कहा— वह सभी द्वीप—समुद्रों में आभ्यन्तर है। वह तिर्यक्‌लोक के मध्य में स्थित है, सबसे छोटा है, गोल है। अपने गोलाकार में यह एक लाख योजन लम्बा चौड़ा है। इसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस एक सौ अट्‌ठाईस धनुष और साढे तेरह अंगुल से कुछ अधिक है। इसके चारों ओर एक वज्रमय दीवार है। उस दीवार में एक जालीदार गवाक्ष भी है और एक महान् पद्मवरवेदिका है। पद्मवरवेदिका के बाहर एक विशाल वन-खण्ड है। जम्बूद्वीप के विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित—ये चार द्वार हैं। जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र कहाँ है? उसका स्वरूप क्या है? दक्षिणार्द्ध भरत और उत्तरार्द्ध भरत वैताढ्य नामक पर्वत से किस प्रकार विभक्त हुआ है? वैताढ्य पर्वत कहाँ है? वैताढ्य पर्वत पर विद्याधर श्रेणियाँ किस प्रकार है। वैताढ्य पर्वत के कितने कूट/शिखर हैं? सिद्धायतन कूट कहाँ है? दक्षिणार्द्ध भरतकूट कहाँ है? ऋषभकूट पर्वत कहाँ है? आदि का विस्तृत वर्णन प्रथम वक्षस्कार में किया गया है।

प्रस्तुत आगम में जिन प्रश्नों पर चिन्तन किया गया है, उन्हीं पर अंग साहित्य में भी विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। स्थानांग, समवायांग और भगवती में अनेक स्थलों पर विविध दृष्टियों से लिखा गया है। इसी प्रकार परवर्ती श्वेताम्बर साहित्य में भी बहुत ही विस्तार से चर्चा की गई है, तो दिगम्बर परम्परा के तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रन्थों में भी विस्तार से निरूपण किया गया है। यह वर्णन केवल जैन परम्परा के ग्रन्थों में ही नहीं, भारत की प्राचीन वैदिक परम्परा और बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध में यत्र—तत्र निरूपण किया गया है। भारतीय मनीषियों के अन्तर्मानस में जम्बूद्वीप के प्रति गहरी आस्था और अप्रतिम सम्मान रहा है। जिसके कारण ही विवाह, नामकरण, गृहप्रवेश प्रभृति मांगलिक कार्यों के प्रारम्भ में मंगल कलश स्थापन के समय यह मन्त्र दोहराया जाता है—**जम्बूद्वदीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डे..... प्रदेशे.....नगरे.....संवत्सरे...शुभमासे....**

प्रस्तुत आगम में जम्बूद्वीप का आकार गोल बताया है और उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए कहा गया है कि तेल में तले हुए पूए जैसा गोल, रथ के पहिये जैसा गोल, कमल की कर्णिका जैसा गोल और प्रतिपूर्ण चन्द्र जैसा गोल है। भगवती[६], जीवाजीवाभिगम[७], ज्ञानार्णव[८], त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्त[९], लोकप्रकाश[१०], आराधना—समुच्चय[११], आदिपुराण[१२] में पृथ्वी का आकार झल्लरी (झालर या चूड़ी) के आकार के समान गोल बताया गया है। प्रशमरतिप्रकरण[१३] आदि में पृथ्वी का आकार स्थाली के सदृश भी बताया गया है। पृथ्वी की परिधि भी वृत्ताकार है, इसलिए जीवाजीवाभिगम में परिवेष्टित करने वाले घनोदधि प्रभृति वायुओं को वलयाकार माना है।[१४] तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में पृथ्वी (जम्बूद्वीप) की उपमा खड़े हुए मृदंग के ऊर्ध्व भाग (सपाट गोल) से दी गई है।[१५] दिगम्बर परम्परा के जम्बूद्वीवपण्णत्ति[१६] ग्रंथ में जम्बूद्वीप के आकार का वर्णन करते हुए उसे सूर्यमण्डल की तरह वृत्त बताया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैन साहित्य में पृथ्वी नारंगी के समान गोल न होकर चपटी प्रतिपादित है। जैन परम्परा ने ही नहीं वायुपुराण, पद्मपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, भागवतपुराण प्रभृति पुराणों में भी पृथ्वी को समतल आकार, पुष्कर पत्र समाकार चित्रित किया है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से पृथ्वी नारंगी की तरह गोल है। भारतीय मनीषियों द्वारा निरूपित पृथ्वी का आकार और वैज्ञानिकसम्मत पृथ्वी के आकार में अन्तर है। इस अन्तर को मिटाने के लिए अनेक मनीषीगण प्रयत्न कर रहे हैं। यह प्रयत्न दो प्रकार से चल रहा है। कुछ चिन्तकों का यह अभिमत है कि प्राचीन वाङ्मय में आये हुए इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की जाये जिससे आधुनिक विज्ञान के हम सन्निकट हो सकें तो दूसरे मनीषियों का अभिमत है कि विज्ञान का जो मत है वह सदोष है, निर्बल है, प्राचीन महामनीषियों का कथन ही पूर्ण सही है।

प्रथम वर्ग के चिन्तकों का कथन है कि पृथ्वी के लिये आगम साहित्य में झल्लरी या स्थाली की उपमा दी गई है। वर्तमान में हमने झल्लरी शब्द को झालर मानकर और स्थाली शब्द को थाली मानकर पृथ्वी को वृत्त अथवा चपटी माना है। झल्लरी का एक अर्थ झांझ नामक वाद्य भी है और स्थाली का अर्थ भोजन पकाने वाली हंडिया भी हैं। पर आधुनिक युग में यह अर्थ प्रचलित नहीं है। यदि हम झांझ और हंडिया अर्थ मान लें तो पृथ्वी का आकार गोल सिद्ध हो जाता है।[१७] जो आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी संगत है। स्थानांगसूत्र में झल्लरी शब्द झांझ नामक वाद्य के अर्थ में व्यवहृत हुआ है।[१८]

दूसरी मान्यता वाले चिन्तकों का अभिमत है कि विज्ञान एक ऐसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रक्रिया है जिसमें सतत अनुसंधान और गवेषणा होती रहती है। विज्ञान ने जो पहले सिद्धान्त संस्थापित किये थे आज वे सिद्धान्त नवीन प्रयोगों और अनुसंधानों से खण्डित हो चुके हैं। कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों ने 'पृथ्वी गोल है' इस मान्यता का खण्डन किया है।[१९] लंदन में 'फ्लेट अर्थ सोसायटी' नामक संस्था इस संबंध में जागरूकता से इस तथ्य को कि पृथ्वी चपटी है, उजागर करने का प्रयास कर रही है, तो भारत में भी अभयसागर जी महाराज व आर्यिका ज्ञानमती जी दत्तचित्त होकर उसे चपटी सिद्ध करने में संलग्न हैं। उन्होंने अनेक पुस्तकें भी इस संबंध में प्रकाशित की है।

द्वितीय वक्षस्कार : एक चिन्तन

द्वितीय वक्षस्कार में गणधर गौतम की जिज्ञासा पर भगवान महावीर ने कहा कि भरत क्षेत्र में काल दो प्रकार का है और वह अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नाम से विश्रुत है। दोनों का कालमान बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। सागर या सागरोपम मानव को ज्ञात समस्त संख्याओं से अधिक काल वाले कालखण्ड का उपमा द्वारा प्रदर्शित परिमाण है। वैदिक दृष्टि से चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का एक कल्प होता है। इस कल्प में एक हजार चतुर्युग होते हैं। पुराणों में इतना काल ब्रह्मा के एक दिन या रात्रि के बराबर माना है। जैन दृष्टि से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के छह—छह उपविभाग होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

अवसर्पिणी

क्रम	काल विस्तार
१. सुषमा—सुषमा	चार कोटाकोटि सागर
२. सुषमा	तीन कोटाकोटि सागर
३. सुषमा—दु:षमा	दो कोटाकोटि सागर
४. दु:षमा—सुषमा	एक कोटाकोटि सागर में ४२००० वर्ष न्यून
५. दु:षमा	२१००० वर्ष
६. दु:षमा—दु:षमा	२१००० वर्ष

उत्सर्पिणी

क्रम	काल विस्तार
१. दु:षमा—दु:षमा	२१००० वर्ष
२. दु:षमा	२१००० वर्ष
३. दु:षमा—सुषमा	एक कोटाकोटि सागर में ४२००० वर्ष न्यून
४. सुषमा—दु:षमा	दो कोटाकोटि सागर
५. सुषमा	तीन कोटाकोटि सागर
६. सुषमा—सुषमा	चार कोटाकोटि सागर

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नामक इन दोनों का काल बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। यह भरतक्षेत्र और ऐरावतक्षेत्र में रहट—घट न्याय[२०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से अथवा शुक्ल—कृष्ण पक्ष[21] के समान एकान्तर क्रम से सदा चलता रहता है। आगमकार ने अवसर्पिणी काल के सुषमा—सुषमा नामक प्रथम आरे का विस्तार से निरूपण किया है। उस काल में मानव का जीवन अत्यन्त सुखी था। उस पर प्रकृति देवी की अपार कृपा थी। उसकी इच्छाएँ स्वल्प थीं और वे स्वल्प इच्छाएँ कल्पवृक्षों के माध्यम से पूर्ण हो जाती थीं। चारों ओर सुख का सागर ठाठें मार रहा था। वे मानव पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न थे। उस युग में पृथ्वी सर्वरसा थी। मानव तीन दिन में एक बार आहार करता था और वह आहार उन्हें उन वृक्षों से ही प्राप्त होता था। मानव वृक्षों के नीचे निवास करता था। वे घटादार और छायादार वृक्ष भव्य भवन के सदृश ही प्रतीत होते थे। न तो उस युग में असि थी, न मसी और न ही कृषि थी। मानव पादचारी था, स्वेच्छा से इधर—उधर परिभ्रमण कर प्राकृतिक सौन्दर्य—सुषमा के अपार आनन्द को पाकर आह्लादित था। उस युग के मानवों की आयु तीन पल्योपम की थी। जीवन की सांध्यवेला में छह माह अवशेष रहने पर एक पुत्र और पुत्री समुत्पन्न होते थे। उनपचास दिन वे उसकी सार—सम्भाल करते और अन्त में छींक और उबासी/जम्हाई के साथ आयु पूर्ण करते। इसी तरह से द्वितीय आरक और तृतीय आरक के दो भागों तक भोगभूमि— अकर्मभूमि काल कहलाता है। क्योंकि इन कालखण्डों में समुत्पन्न होने वाले मानव आदि प्राणियों का जीवन भोगप्रधान रहता है। केवल प्रकृतिप्रदत्त पदार्थों का उपभोग करना ही इनका लक्ष्य होता है। कषाय मन्द होने से उनके जीवन में संक्लेश नहीं होता। भोगभूमि काल को आधुनिक शब्दावली में कहा जाय तो वह 'स्टेट ऑफ नेचर' अर्थात् प्राकृतिक दशा के नाम से पुकारा जायेगा। भोगभूमि के लोग समस्त संस्कारों से शून्य होने पर भी स्वाभाविक रूप से ही सुसंस्कृत होते हैं। घर—द्वार, ग्राम—नगर, राज्य और परिवार नहीं होता और न उनके द्वारा निर्मित नियम होते हैं। प्रकृति ही उनकी नियामक होती है। छह ऋतुओं का चक्र भी उस समय नहीं होता। केवल एक ऋतु ही होती है। उस युग के मानवों का वर्ण स्वर्ण सदृश होता है। अन्य रंग वाले मानवों का पूर्ण अभाव होता है। प्रथम आरक से द्वितीय आरक में पूर्वापेक्षया वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि प्राकृतिक गुणों में शनैः शनैः हीनता आती चली जाती है। द्वितीय आरक में मानव की आयु तीन पल्योपम से कम होती—होती दो पल्योपम की हो जाती है। उसी तरह से तृतीय आरे में भी ह्रास होता चला जाता है। धीरे—धीरे यह ह्रासोन्मुख अवस्था अधिक प्रबल हो जाती है, तब मानव के जीवन में अशान्ति का प्रादुर्भाव होता है। आवश्यकताएँ बढ़ती हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति प्रकृति से पूर्णतया नहीं हो पाती। तब एक युगान्तरकारी प्राकृतिक एवं जैविक परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन से अनभिज्ञ मानव भयभीत बन जाता है। उन मानवों को पथ प्रदर्शित करने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए ऐसे व्यक्ति आते हैं जो जैन पारिभाषिक शब्दावली में 'कुलकर' की अभिधा से अभिहित किये जाते हैं और वैदिक परम्परा में वे 'मनु' की संज्ञा से पुकारे गये हैं।

भगवान ऋषभदेव—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भगवान ऋषभदेव को पन्द्रहवाँ कुलकर माना है तो साथ ही उन्हें प्रथम तीर्थंकर, प्रथम राजा, प्रथम केवली, प्रथम धर्मक्रचवर्ती आदि भी लिखा है। भगवान ऋषभदेव का जाज्वल्यवान व्यक्तित्व और कृतित्व अत्यन्त प्रेरणादायी है। वे ऐसे विशिष्ट महापुरुष हैं, जिनके चरणों में जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनों भारतीय धाराओं ने अपनी अनन्त आस्था के सुमन समर्पित किये हैं। स्वयं मूल आगमकार ने उनकी जीवनगाथा बहुत ही संक्षप में दी है। वे बीस लाख पूर्व तक कुमार अवस्था में रहे। तिरेसठ लाख पूर्व तक उन्होंने राज्य का संचालन किया। एक लाख पूर्व तक उन्होंने संयम—साधना कर तीर्थंकर जीवन व्यतीत किया। उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रजा के हित के लिये कलाओं का निर्माण किया। बहत्तर कलाएँ पुरुषों के लिये तथा चौसठ कलाएँ स्त्रियों के लिये प्रतिपादित की।[२२] साथ ही सौ शिल्प भी बताये। आदिपुराण ग्रन्थ में दिगम्बर आचार्य जिनसेन[२३] ने ऋषभदेव के समय प्रचलित छह आजीविकाओं का उल्लेख किया है— १. असि—सैनिकवृत्ति, २. मसि— लिपिविद्या, ३. कृषि— खेती का काम, ४. विद्या— अध्यापन या शास्त्रोपदेश का कार्य, ५. वाणिज्य—व्यापार, व्यवसाय, ६. शिल्प— कलाकौशल।

उस समय के मानवों को 'षट्कर्मजीवानाम्' कहा गयाहै।[२४] महापुराण के अनुसार आजीविका को व्यवस्थित रूप देने के लिए ऋषभदेव के क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन तीन वर्णों की स्थापना की।[२५] आवश्यकनिर्युक्ति[२६], आवश्यकचूर्णि[२७], त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्त[२८] के अनुसार ब्राह्मणवर्ण की स्थापना ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने की। ऋग्वेदसंहिता[२९] में वर्णों की उत्पत्ति के संबंध में विस्तार से निरूपण है। वहाँ पर ब्राह्मण का मुख, क्षत्रिय को बाहु, वैश्य को उर और शूद्र को पैर बताया है। यह लाक्षणिक वर्णन समाजरूप विराट् शरीर के रूप में चित्रित किया गया है। श्रीमद्भागवत[३०] आदि में भी इस संबंध में उल्लेख किया गया है।

प्रस्तुत आगम में जब भगवान ऋषभदेव प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, तब वे चार मुष्ठि लोच करते हैं, जबकि अन्य सभी तीर्थंकरों के वर्णन में पंचमुष्ठि लोच का उल्लेख है। टीकाकार ने विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस समय भगवान् ऋषभदेव लोच कर रहे थे, उस समय स्वर्ण के समान चमचमाती हुई केशराशि को निहार कर इन्द्र ने भगवान ऋषभदेव से प्रार्थना की, जिससे भगवान ऋषभदेव ने इन्द्र की प्रार्थना से एक मुष्ठि केश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी तरह रहने दिये। केश रखने से वे केशी या केसरिया जी के नाम से विश्रुत हुए। पद्मपुराण[३१] हरिवंशपुराण[३२] में ऋषभदेव की जटाओं का उल्लेख है। ऋग्वेद[३३] में ऋषभ की स्तुति केशी के रूप में की गई। वहाँ बताया है कि केशी अग्नि, जल, स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है और केश विश्व के समस्त तत्त्वों का दर्शन कराता है और प्रकाशमान ज्ञानज्योति है।

भगवान ऋषभदेव ने चार हजार उग्र, भोग, राजन्य और क्षत्रिय वंश के व्यक्तियों के साथ दीक्षाग्रहण की। पर उन चार हजार व्यक्तियों को दीक्षा स्वयं भगवान ने दी, ऐसा उल्लेख नहीं है। आवश्यकनिर्युक्तिकार[३४] ने इस संबंध में यह स्पष्ट किया है कि उन चार हजार व्यक्तियों ने भगवान ऋषभदेव का अनुसरण किया। भगवान की देखादेखी उन चार हजार व्यक्तियों ने स्वयं केशलुंचन आदि क्रियाएँ की थीं। प्रस्तुत अगाम में यह भी उल्लेख नहीं है कि भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा के पश्चात् कब आहार ग्रहण किया? समवायांग में यह स्पष्ट उल्लेख है कि **'संवच्छरेण भिक्खा लद्धा उसहेण लोगनाहेण।'**[३५] इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् ऋषभदेव की दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् एक वर्ष से अधिक समय व्यतीत होने पर भिक्षा मिली थी। किस तिथि को भिक्षा प्राप्त हुई थी, इसका उल्लेख 'वसुदेवहिण्डी[३६] और हरिवंशपुराण[३७] में नहीं हुआ है। वहाँ पर केवल संवत्सर का ही उल्लेख है। पर खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली[३८], त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्त[३९] और महाकवि पुष्पदन्त[४०] के महापुराण में यह स्पष्ट उल्लेख है कि अक्षय तृतीया के दिन पारणा हुआ। श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार ऋषभदेव ने बेले का तप धारण किया था और दिगम्बर ग्रन्थों के अनुसार उन्होंने छह महीनों का तप धारण किया था, पर भिक्षा देने की विधि से लोग अपरिचित थे। अत: अपने आप ही आचीर्ण तप उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया और एक वर्ष से अधिक अवधि व्यतीत होने पर उनका पारणा हुआ। श्रेयांसकुमार ने उन्हें इक्षुरस प्रदान किया।

तृतीय आरे के तीन वर्ष साढे आठ मास शेष रहने पर भगवान ऋषभदेव दस हजार श्रमणों के साथ अष्टापद पर्वत पर आरूढ हुए और उन्होंने अजर–अमर पद को प्राप्त किया,[४१] जिसे जैनपरिभाषा में निर्वाण या परिनिर्वाण कहा गया है। शिवपुराण में अष्टापद पर्वत के स्थान पर कैलाशपर्वत का उल्लेख है।[४२] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[४३], कल्पसूत्र[४४], त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्त[४५], के अनुसार ऋषभदेव की निर्वाणतिथि माघ कृष्णा त्रयोदशी है। तिलोयपण्णत्ति[४६] एवं महापुराण[४७] के अनुसार माघ कृष्णा चतुर्दशी है। विज्ञों का मानना है कि भगवान ऋषभदेव की स्मृति में श्रमणों ने उस दिन उपवास रखा और वे रातभर धर्मजागरण करते रहे। इसलिये वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रात्रि शिवरात्रि के रूप में जानी गई। ईशान संहिता[४८] में उल्लेख है कि माघ कृष्णा चतुर्दशी की महानिशा में कोटिसूर्य-प्रभोपम भगवान आदिदेव शिवगति प्राप्त हो जाने से शिव—इस लिंग से प्रकट हुए। जो निर्वाण के पूर्व आदिदेव थे, वे शिवपद प्राप्त हो जाने से शिव कहलाने लगे।

अन्य आरक वर्णन—भगवान ऋषभदेव के पश्चात् दुष्षमसुषमा नामक आरक में तेईस अन्य तीर्थंकर होते हैं और साथ ही उस काल में ग्यारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव और नौ वासुदेव आदि श्लाघनीय पुरुष भी समुत्पन्न होते हैं। पर उनका वर्णन प्रस्तुत आगम में नहीं आया है। संक्षेप में ही इन आरकों का वर्णन किया गया है। छठे आरक का वर्णन कुछ विस्तार से हुआ है। छठे आरक में प्रकृति के प्रकोप से जन—जीवन अत्यन्त दुःखी हो जायेगा। सर्वत्र हाहाकार मच जायेगा। मानव के अन्तर्मानस में स्नेह—सद्भावना के अभाव में छल—छद्म का प्राधान्य होगा। उनका जीवन अमर्यादित होगा तथा उनका शरीर विविध व्याधियों से संत्रस्त होगा। गंगा और सिन्धु जो महानदियाँ हैं, वे नदियाँ भी सूख जायेंगी। रथचक्रों की दूरी के समान पानी का विस्तार रहेगा तथा रथचक्र की परिधि से केन्द्र की जितनी दूरी होती है, उतनी पानी की गहराई होगी। पानी में मत्स्य और कच्छप जैसे जीव विपुल मात्रा में होंगे। मानव इन नदियों के सन्निकट वैताढ्य पर्वत में रहे हुए बिलों में रहेगा। सूर्योदय ओर सूर्यास्त के समय बिलों से निकलकर वे मछलियाँ और कछुए पकडेंगे और उनका आहार करेंगे। इस प्रकार २१००० वर्ष तक मानव जाति विविध कष्टों को सहन करेगी और वहाँ से आयु पूर्ण कर वे जीव नरक और तिर्यंच गति में उत्पन्न होंगे। अवसर्पिणी काल समाप्त होने पर उत्सर्पिणी काल का प्रारम्भ होगा। उत्सर्पिणी काल का प्रथम आरक अवसर्पिणी काल के छठे आरक के समान ही होगा और द्वितीय आरक पंचम आरक के सदृश होगा। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आदि में धीरे—धीरे पुनः सरसता की अभिवृद्धि होगी। क्षीरजल, घृतजल, और अमृतजल की वृष्टि होगी, जिससे प्रकृति में सर्वत्र सुखद परिवर्तन होगा। चारों ओर हरियाली लहलहाने लगेगी। शीतल मन्द सुगन्ध पवन ठुमक—ठुमक कर चलने लगेगा। बिलवासी मानव बिलों से बाहर निकल आयेंगे और प्रसन्न होकर यह प्रतिज्ञा ग्रहण करेंगे कि हम भविष्य में मांसाहार नहीं करेंगे और जो मांसाहार करेगा उनकी छाया से भी हम दूर रहेंगे। उत्सर्पिणी काल के तृतीय आरक में तेईस तीर्थंकर, ग्यारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ, बलदेव आदि उत्पन्न होंगे। चतुर्थ आरक के प्रथम चरण में चौबीसवें तीर्थंकर समुत्पन्न होंगे और एक चक्रवर्ती भी। अवसर्पिणी काल में जहाँ उत्तरोत्तर ह्रास होता है, वहाँ उत्सर्पिणी काल में उत्तरोत्तर विकास होता है। जीवन में अधिकाधिक सुख—शांति का सागर ठाठें मारने लगता है। चतुर्थ आरक के द्वितीय चरण से पुनः यौगलिक काल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रारम्भ हो जाता है। कर्मभूमि से मानव का प्रस्थान भोग भूमि की ओर होता है। इस प्रकार द्वितीय वक्षस्कार में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल का निरूपण हुआ है। यह निरूपण ज्ञानवर्द्धन के साथ ही साधक के अन्तर्मानस में यह भावना उत्पन्न करता है कि मैं इस कालचक्र में अनन्त काल से विविध योनियों में परिभ्रमण कर रहा हूँ। अब मुझे ऐसा उपक्रम करना चाहिये जिससे सदा के लिये इस चक्र से मुक्त हो जाऊँ।

तृतीय वक्षस्कार

विनीता—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के तृतीय वक्षस्कार में सर्वप्रथम विनीता नगरी का वर्णन है। उस विनीता नगरी की अवस्थिति भरतक्षेत्र स्थित वैताढ्य पर्वत के दक्षिण के ११४,११/१९ योजन तथा लवणसमुद्र के उत्तर में ११४,११/१९ योजन की दूरी पर, गंगा महानदी के पश्चिम में और सिन्धु महानदी के पूर्व में दक्षिणार्द्ध भरत के मध्यवर्ती तीसरे भाग के ठीक बीच में है। विनीता का ही अपर नाम अयोध्या है। जैन साहित्य की दृष्टि से यह नगर सबसे प्राचीन है। यहाँ के निवासी विनीत स्वभाव के थे। एतदर्थ भगवान ऋषभदेव ने इस नगरी का नाम विनीता रखा।[४९] यहाँ और पाँच तीर्थंकरों ने दीक्षा ग्रहण की।

आवश्यनिर्युक्ति के अनुसार यहाँ दो तीर्थंकर—ऋषभदेव (प्रथम) अभिनन्दन (चतुर्थ) ने जन्म ग्रहण किया।[५०] अन्य ग्रन्थों के अनुसार ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दन, सुमति, अनन्त और अचलभानु की जन्मस्थली और दीक्षास्थली रही है। राम, लक्ष्मण आदि बलदेव—वासुदेवों की भी जन्मभूमि रही है। अचल गणधर ने भी यहाँ जन्म ग्रहण किया था। आवश्यकमलयगिरिवृत्ति[५१] के अनुसार अयोध्या के निवासियों ने विविध कलाओं में कुशलता प्राप्त की थी इसलिये अयोध्या को 'कौशला' भी कहते हैं। अयोध्या में जन्म लेने के कारण भगवान ऋषभदेव कौशलीय कहलाये थे।

भरत चक्रवर्ती

सम्राट् भरत चक्रवर्ती का जन्म विनीता नगरी में ही हुआ था। वे भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनकी बाह्य आकृति जितनी मनमोहक थी, उतना ही उनका आन्तरिक जीवन भी चित्ताकर्षक था। स्वभाव से वे करुणाशील थे, मर्यादाओं के पालक थे, प्रजावत्सल थे। राज्य—ऋद्धि का उपभोग करते हुए भी वे पुण्डरीक कमल की तरह निर्लेप थे। वे गन्धहस्ती की तरह थे। विरोधी राजारूपी हाथी एक क्षण भी उनके सामने टिक नहीं पाते थे। जो व्यक्ति मर्यादाओं का अतिक्रमण करता उसके लिये वे काल के सदृश थे। उनके राज्य में दुर्भिक्ष और महामारी का अभाव था।

एक दिन सम्राट अपने राजदरबार में बैठा हुआ था। उस समय आयुधशाला के अधिकारी ने आकर सूचना दी कि आयुधशाला में चक्ररत्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पैदा हुआ है। आवश्यकनिर्युक्ति[५२], आवश्यकचूर्णि[५३], त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्त[५४] और चउप्पन्नमहापुरिसचरियं[५५] के अनुसार राजसभा में यमक और शमक बहुत ही शीघ्रता से प्रवेश करते हैं। यमक सुभट ने नमस्कार कर निवेदन किया कि भगवान ऋषभदेव को एक हजार वर्ष की साधना के बाद केवलज्ञान की उपलब्धि हुई है। वे पुरिमताल नगर के बाहर शकटानन्द उद्यान में विराजित हैं। उसी समय शमक नामक सुभट ने कहा— स्वामी! आयुधशाला में चक्ररत्न पैदा हुआ है, वह आपकी दिग्विजय का सूचक है। आप चलकर उसकी अर्चना करें। दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने उपर्युक्त दो सूचनाओं के अतिरिक्त तृतीय पुत्र की सूचना का भी उल्लेख किया है।[५६] ये सभी सूचनाएँ एक साथ मिलने से भरत एक क्षण असमंजस में पड़ गये।[५७] वे सोचने लगे कि मुझे प्रथम कौनसा कार्य करना चाहिये? पहले चक्ररत्न की अर्चना करनी चाहिये या पुत्रोत्सव मनाना चाहिए या प्रभु की उपासना करनी चाहिये? दूसरे ही क्षण उनकी प्रत्युत्पन्न मेधा ने उत्तर दिया कि केवलज्ञान का उत्पन्न होना धर्मसाधना का फल है, पुत्र उत्पन्न होना काम का फल है और देदीप्यमान चक्र का उत्पन्न होना अर्थ का फल है।[५८] इन तीन पुरुषार्थों में प्रथम पुरुषार्थ धर्म है, इसलिये मुझे सर्वप्रथम भगवान ऋषभदेव की उपासना करनी चाहिये। चक्ररत्न और पुत्ररत्न तो इसी जीवन को सुखी बनाता है पर भगवान का दर्शन तो इस लोक और परलोक दोनों को ही सुखी बनाने वाला है। अतः मुझे सर्वप्रथम उन्हीं के दर्शन करना है।[५९] प्रस्तुत आगम में केवल चक्ररत्न का ही उल्लेख हुआ है, अन्य दो घटनाओं का उल्लेख नहीं है। अतः भरत ने चक्ररत्न का अभिवादन किया और अष्ट दिवसीय महोत्सव किया।

चक्रवर्ती सम्राट् बनने के लिये चक्ररत्न अनिवार्य साधन है। यह चक्ररत्न देवाधिष्ठित होता है। एक हजार देव इस चक्ररत्न की सेवा करते हैं। यों चक्रवर्ती के पास चौदह रत्न होते हैं। यहाँ पर रत्न का अर्थ अपनी—अपनी जातियों की सर्वोत्कृष्ट वस्तुएँ हैं।[६०] चौदह रत्नों में सात रत्न एकेन्द्रिय और सात रत्न पंचेन्द्रिय होते हैं। आचार्य अभयदेव ने स्थानांगवृत्ति में लिखा है कि चक्र आदि सात रत्न पृथ्वीकाय के जीवों के शरीर से बने हुए होते हैं, अतः उन्हें एकेन्द्रिय कहा जाता है। आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रवचनसारोद्धार ग्रन्थ में इन सात रत्नों का प्रमाण इस प्रकार दिया है।[६१] चक्र, छत्र और दण्ड ये तीनों व्याम तुल्य है।[६२] तिरछे फैलाये हुए दोनों हाथों की अंगुलियों के अन्तराल जितने बड़े होते हैं। चर्मरत्न दो हाथ लम्बा होता है। असिरत्न बत्तीस अंगुल, मणिरत्न चार अंगुल लम्बा और दो अंगुल चौड़ा होता है। कागिणीरत्न की लम्बाई चार अंगुल होती है। जिस युग में जिस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्रवर्ती की अवगाहना होती है, उस चक्रवर्ती के अंगुल का यह प्रमाण है।

चक्रवर्ती की आयुधशाला में चक्ररत्न, छत्ररत्न, दण्डरत्न और असिरत्न उत्पन्न होते हैं। चक्रवर्ती के श्रीधर में चर्मरत्न, मणिरत्न और कागिणीरत्न उत्पन्न होते हैं। चक्रवर्ती की राजधानी विनीता में सेनापति, गृहपति, वर्द्धकि और पुरोहित ये चार पुरुषरत्न होते हैं। वैताढ्यगिरि की उपत्यका में अश्व और हस्ती रत्न उत्पन्न होते हैं। उत्तरदिशा की विद्याधर श्रेणी में स्त्रीरत्न उत्पन्न होता है।[६३]

गंगा महानदी–सम्राट भरत षट्खण्ड पर विजय–वैजयन्ती फहराने के लिये विनीता से प्रस्थित होते हैं और गंगा महानदी के दक्षिणी किनारे से होते हुए पूर्व दिशा में मागध दिशा की ओर चलते हैं। गंगा भारतवर्ष की बड़ी नदी है। स्कन्धपुराण[६४], अमरकोश[६५], आदि में गंगा को देवताओं की नदी कहा है। जैनसाहित्य में गंगा को देवाधिष्ठित नदी माना है।[६६] स्थानांग[६७], समवायांग[६८], जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[६९], निशीथ[७०], और बृहत्कल्प[७१], में गंगा को एक महानदी के रूप में चित्रित किया गया है। स्थानांग[७२], निशीथ[७३] और बृहत्कल्प[७४] में गंगा को महार्णव भी लिखा है। आचार्य अभयदेव के स्थानांगवृत्ति[७५] में महार्णव शब्द को उपमावाचक मानकर उसका अर्थ किया है कि विशाल जलराशि के कारण वह विराट् समुद्र की तरह थी। पुराणकाल में भी गंगा को समुद्ररूपिणी कहा है।[७६]

नवनिधियाँ–सम्राट भरत के पास चौदह रत्नों के साथ ही नवनिधियाँ[७७] भी थीं, जिनसे उन्हें मनोवाँछित वस्तुएँ प्राप्त होती थीं। निधि का अर्थ खजाना है। भरत महाराज को ये नवनिधियाँ, जहाँ गंगा महानदी समुद्र में मिलती है, वहाँ पर प्राप्त हुई। आचार्य अभयदेव[७८] के अनुसार चक्रवर्ती को अपने राज्य के लिये उपयोगी सभी वस्तुओं की प्राप्ति इन नौ निधियों से होती है। इसलिये इन्हें नवनिधान के रूप में गिना है। वे नवनिधियाँ इस प्रकार है– १. नैसर्पनिधि २. पांडुकनिधि ३. पिंगलनिधि ४. सर्वरत्ननिधि ५. महापद्मनिधि ६. कालनिधि ७. महाकालनिधि ८. माणवकनिधि ९. शंखनिधि।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में वर्णन है कि भरत आदर्शघर में जाते हैं। वहाँ अपने दिव्य रूप को निहारते हैं। शुभ अध्यवसायों के कारण उन्हें केवलज्ञान व केवलदर्शन प्राप्त हो गया। उन्होंने केवलज्ञान/केवलदर्शन होने के पश्चात् सभी वस्त्राभूषणों को हटाया और स्वयं पंचमुष्टि लोच कर श्रमण बने।[७९] परन्तु आवश्यकनिर्युक्ति[८०] आदि में यह वर्णन दूसरे रूप में प्राप्त है। एक बार भरत आदर्शभवन में गए। उस समय उनकी अंगुली से अंगूठी नीचे गिर पड़ी। अंगूठी रहित अंगुली शोभाहीन प्रतीत हुई। वे सोचने लगे कि अचेतन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थों से मेरी शोभा है। मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? मैं जड़ पदार्थों की सुन्दरता को अपनी सुन्दरता मान बैठा हूँ। इस प्रकार चिन्तन करते हुए उन्होंने मुकुट, कुण्डल आदि समस्त आभूषण उतार दिये। सारा शरीर शोभाहीन प्रतीत होने लगा। वे चिन्तन करने लगे कि कृत्रिम सौन्दर्य चिर नहीं है, आत्मसौन्दर्य ही स्थायी है। भावना का वेग बढ़ा और वे कर्ममल को नष्ट कर केवलज्ञानी बन गये।

चतुर्थ वक्षस्कार

चतुर्थ वक्षस्कार में चुल्ल हिमवन्त पर्वत का वर्णन है। इस पर्वत के ऊपर बीचों–बीच पद्म नाम का एक सरोवर है। इस सरोवर का विस्तार से वर्णन किया गया है। गंगा नदी, सिन्धु नदी, रोहितांशा नदी प्रभृति नदियों का भी वर्णन है। प्राचीन साहित्य, चाहे वह वैदिक परम्परा का रहा हो या बौद्ध परम्परा का, उनमें इन नदियों का वर्णन विस्तार के साथ मिलता है।

चुल्ल हिमवन्त पर्वत पर ग्यारह शिखर हैं। उन शिखरों का भी विस्तार से निरूपण किया है। हैमवत क्षेत्र का और उसमें शब्दापाती नामक वृत्तवैताढ्य पर्वत का भी वर्णन है। महाहिमवन्त नामक पर्वत का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि उस पर्वत पर एक महापद्म नामक सरोवर है। उस सरोवर का भी निरूपण हुआ है। हरिवर्ष, निषध पर्वत और उस पर्वत पर तिगिंछ नामक एक सुन्दर सरोवर है। महाविदेह क्षेत्र का भी वर्णन है। जहाँ पर सदा–सर्वदा तीर्थंकर प्रभु विराजते हैं, उनकी पावन प्रवचन धारा सतत प्रवहमान रहती है। महाविदेह क्षेत्र में से हर समय जीव मोक्ष में जा सकता है। इसके बीचों–बीच मेरु पर्वत है। जिससे महाविदेह क्षेत्र के दो विभाग हो गये हैं– एक पूर्व महाविदेह और एक पश्चिम महाविदेह। पूर्व महाविदेह के मध्य में शीता नदी और पश्चिम महाविदेह के मध्य में शीतोदा नदी आ जाने से एक–एक विभाग के दो–दो उपविभाग हो गये हैं। इस प्रकार महाविदेह क्षेत्र के चार विभाग हैं। इन चारों विभागों में आठ–आठ विजय हैं, अतः महाविदेह क्षेत्र में ८ X ४ =३२ विजय हैं। गन्धमादन पर्वत, उत्तर कुरु में यमक नामक पर्वत, जम्बूवृक्ष, महाविदेह क्षेत्र में माल्यवन्त पर्वत, कच्छ नामक विजय, चित्रकूट नामक अन्य विजय, देवकुरु, मेरुपर्वत, नन्दनवन, सौमनस वन आदि वनों के वर्णनों के साथ नील पर्वत, रम्यक हिरण्यवत और ऐरावत आदि क्षेत्रों का भी इस वक्षस्कार में बहुत विस्तार से वर्णन किया है। यह वक्षस्कार अन्य वक्षस्कारों की अपेक्षा बड़ा है।

पाँचवाँ वक्षस्कार

पाँचवें वक्षस्कार में जिनजन्माभिषेक का वर्णन है। तीर्थंकरों का हर एक महत्त्वपूर्ण कार्य कल्याणक कहलाता है। स्थानांग, कल्पसूत्र आदि में तीर्थंकरों के पंच कल्याणकों का उल्लेख है। इनमें प्रमुख कल्याणक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्मकल्याणक है। तीर्थंकरों का जन्मोत्सव मनाने के लिये ५६ महत्तरिका दिशाकुमारियों और ६४ इन्द्र आते हैं।

छठा वक्षस्कार

छठे वक्षस्कार में जम्बूद्वीपगत पदार्थ संग्रह का वर्णन है। जम्बूद्वीप के प्रदेशों का लवणसमुद्र से स्पर्श और जीवों का जन्म, जम्बूद्वीप में भरत, ऐरवत, हैमवत, हैरण्यवत, हरिवास, रम्यकवास और महाविदेह इनका प्रमाण, वर्षधर पर्वत, चित्रकूट, विचित्रकूट, यमक पर्वत, कंचन पर्वत, वक्षस्कार पर्वत, दीर्घ वैताढ्य पर्वत, वर्षधरकूट, वक्षस्कारकूट, वैताढ्यकूट, मन्दरकूट, मागध, तीर्थ, वरदाम तीर्थ, प्रभास तीर्थ, विद्याधर श्रेणियाँ चक्रवर्ती विजय, राजधानियाँ, तमिस्रगुफा, खंडप्रपातगुफा, नदियों और महानदियों का विस्तार से मूल आगम में वर्णन प्राप्त है। पाठक गण उसका पारायण कर अपने ज्ञान में अभिवृद्धि करें।

सातवाँ वक्षस्कार

सातवें वक्षस्कार में ज्योतिष्कों का वर्णन है। जम्बूद्वीप में दो चन्द्र, दो सूर्य, छप्पन नक्षत्र, १७६ महाग्रह प्रकाश करते हैं। उसके पश्चात् सूर्य मण्डलों की संख्या आदि का निरूपण है। सूर्य की गति, दिन और रात्रि का मान, सूर्य के आतप का क्षेत्र, पृथ्वी, सूर्य आदि की दूरी, सूर्य का ऊर्ध्व और तिर्यक् नाप, चन्द्रमण्डलों की संख्या, एक मुहूर्त में चन्द्र की गति, नक्षत्र मण्डल एवं सूर्य के उदय–अस्त विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

संवत्सर पाँच प्रकार के हैं—नक्षत्र, युग, प्रमाण, लक्षण और शनैश्चर। नक्षत्र संवत्सर के बारह भेद बताये हैं। युगसंवत्सर, प्रमाणसंवत्सर और लक्षणसंवत्सर के पाँच–पाँच भेद हैं। शनैश्चर संवत्सर के २८ भेद हैं। प्रत्येक संवत्सर के १२ महीने होते हैं। उनके लौकिक और लोकोत्तर नाम बताये हैं। एक महीने के दो पक्ष, एक पक्ष के १५ दिन व १५ रात्रि और १५ तिथियों के नाम, मास, पक्ष, करण, योग, नक्षत्र, पोरुषीप्रमाण आदि का विस्तार से विवेचन किया गया है।

चन्द्र का परिवार, मंडल में गति करने वाले नक्षत्र, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में चन्द्रविमान को वहन करने वाले देव, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा के विमानों को वहन करने वाले देव, ज्योतिष्क देवों की शीघ्र गति,उनमें अल्प और महाऋद्धि वाले देव, जम्बूद्वीप में एक तारे से दूसरे तारे का अन्तर, चन्द्र की चार अग्रमहिषियाँ, परिवार, वैक्रियशक्ति, स्थिति आदि का वर्णन है।

जम्बूद्वीप में जघन्य, उत्कृष्ट तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, निधि, निधियों का परिभोग, पंचेन्द्रिय रत्न तथा उनका परिभोग, एकेन्द्रिय रत्न, जम्बूद्वीप का आयाम, विष्कंभ, परिधि, ऊँचाई, पूर्ण परिमाण, शाश्वत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशाश्वत कथन की अपेक्षा, जम्बूद्वीप में पाँच स्थावर कायों में अनन्त बार उत्पत्ति, जम्बूद्वीप नाम का कारण आदि बताया गया है।

व्याख्या साहित्य

जैन भूगोल तथा प्रागैतिहासिककालीन भारत के अध्ययन की दृष्टि से जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का अनूठा महत्त्व है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति पर कोई भी निर्युक्ति प्राप्त नहीं है और न भाष्य ही लिखा गया है। किन्तु एक चूर्णि अवश्य लिखी गई है।[८१] उस चूर्णि के लेखक कौन थे और उसका प्रकाशन कहाँ से हुआ, यह मुझे ज्ञात नहीं हो सकता है। आचार्य मलयगिरि ने भी जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति पर एक टीका लिखी थी, वह भी अप्राप्य है।[८२] संवत् १६३९ में हीरविजयसूरि ने इस पर टीका लिखी, उसके पश्चात् वि. संवत् १६४५ में पुण्यसागर ने तथा विक्रम संवत् १६६० में शान्तिचन्द्रगणी ने प्रमेयरत्नमंजूषा नामक टीकाग्रन्थ लिखा। यह टीकाग्रन्थ सन् १८८५ में धनपतसिंह कलकत्ता तथा सन् १९२० में देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई से प्रकाशित हुआ। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का हिन्दी अनुवार विक्रम संवत् २४४६ में हैदराबाद से प्रकाशित हुआ था। जिसके अनुवादक आचार्य अमोलकऋषि जी म.सा. थे। आचार्य घासीलाल जी म.सा. ने भी सरल संस्कृत टीका लिखी और हिन्दी तथा गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

जैन भूगोल का परिज्ञान इसलिये आवश्यक है कि आत्मा को अपनी विगत/आगत/अनागत यात्रा का ज्ञान हो जाये और उसे यह भी परिज्ञान हो जाये कि इस विराट् विश्व में उसका असली स्थान कहाँ है? उसका अपना गन्तव्य क्या है? वस्तुत: जैन भूगोल अपने घर की स्थितिबोध का शास्त्र है। उसे भूगोल न कहकर जीवनदर्शन कहना अधिक यथार्थ है। वर्तमान में जो भूगोल पढ़ाया जाता है, वह विद्यार्थी को भौतिकता की ओर ले जाता है। वह केवल ससीम की व्याख्या करता है। वह असीम की व्याख्या करने में असमर्थ है। उसमें स्वरूप बोध का ज्ञान नहीं है जबकि महामनीषियों द्वारा प्रतिपादित भूगोल में अनन्तता रही हुई है, जो हमें बाहर से भीतर की ओर झांकने को उत्प्रेरित करती है।

जो भी आस्तिक दर्शन है जिन्हें आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास है,वे यह मानते हैं कि आत्म कर्म के कारण इस विराट् विश्व में परिभ्रमण कर रहा है। हमारी जो यात्रा चल रही है, उसका नियामक तत्त्व कर्म है। वह हमें कभी स्वर्गलोक की यात्रा कराता है तो कभी नरकलोक की, कभी तिर्यंचलोक की तो कभी मानव लोक की। उस यात्रा का परिज्ञान करना या कराना ही जैन भूगोल का उद्देश्य रहा है। आत्मा शाश्वत है, कर्म भी शाश्वत है और धार्मिक भूगोल भी शाश्वत है। क्योंकि आत्मा का वह परिभ्रमण स्थान है। जो आत्मा और कर्मसिद्धान्त को नहीं जानता वह धार्मिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूगोल को भी नहीं जान सकता। आज कहीं पर अतिवृष्टि का प्रकोप है, कहीं पर अल्पवृष्टि है, कहीं पर अनावृष्टि है, कहीं पर भूकम्प आ रहे हैं तो कहीं पर समुद्री तूफान और कहीं पर धरती लावा उगल रही है, कहीं दुर्घटनाएँ है। इन सभी का मूल कारण क्या है, इसका उत्तर विज्ञान के पास नहीं है। केवल इन्द्रियगम्य ज्ञान से इन प्रश्नों का समाधान नहीं हो सकता। इन प्रश्नों का समाधान होता है— महामनीषियों के चिन्तन से, जो हमें धरोहर के रूप में प्राप्त है। जिस पर इन्द्रियगम्य ज्ञान ससीम होने से असीम संबंधी प्रश्नों का समाधान उसके पास नहीं है। इन्द्रियगम्य ज्ञान विश्वसनीय इसलिये माना जाता है कि वह हमें साफ—साफ दिखलाई देता है। आध्यात्मिक ज्ञान असीम होने के कारण उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये आत्मिक क्षमता का पूर्ण विकास करना होता है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का वर्णन इस दृष्टि से भी बहुत ही उपयोगी है।

संदर्भ

१. बृहत्कल्पभाष्य १.३२७५—८९
२. (क) महाभारत वनपर्व २५४
(ख) महावस्तु III, १७२
(ग) दिव्यावदान पृ. ४२४
३. सुरुचि जातक (सं.४८९) भाग ४, ५२१—५२२
४. जातक (सं. ४०६) भाग ४, पृष्ठ २७
५. (क) लाहा, ज्यॉग्रेफी ऑव अर्ली बुद्धिज्म, पृ.३१
(ख) कनिंघम, ऐंश्येंट ज्यॉग्रेफी ऑव इंडिया, एस.एन. मजुमदार संस्करण पृ. ७१८
(ग) कनिंघम, आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट XVI, ३४
६. भगवतीसूत्र ११/१०/८
७. खरकांडे किंसंठिए पण्णत्ते? गोयमा! झल्लरीसंठिए पण्णत्ते। —जीवाजीवाभिगम सूत्र ३/१/७४
८. मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः। —ज्ञानार्णव ३३/८
९. मध्येतो झल्लरीनिभः। —त्रिषष्ठिशलाका पु. च. २/३/४७९
१०. एतावान्मध्यलोकः स्यादाकृत्या झल्लरीनिभः। —लोकप्रकाश १२/४५
११. आराधनासमुच्चय—५८
१२. आदिपुराण—४/४१
१३. स्थालमिव तिर्यग्लोकम्। —प्रशमरति, २११
१४. घनोदहिवलए—वट्टे वलयागारसंठाणसंठिए। —जीवाजीवाभिगम ३/१/७६
१५. मज्झिमलोयायारो उब्भिय—मुरअद्धसारिच्छो। —तिलोयपण्णत्ति १/१३७
१६. जम्बुद्दीवपण्णत्ति १/२०
१७. तुलसीप्रज्ञा, लाडनूँ, अप्रेल—जून १९७५, पृ. १०६, ले. युवाचार्य महाप्रज्ञ
१८. मज्झिमं पुण झल्लरी। —स्थानांग ७/४२
१९. Research Article- A criticism upon modern views of our earth by Sri Gyan Chand Jain (Appeared in Pt. Sri Kailash Chandra

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Shastri Felicitation Volume pp. 446-450)
२०. अवसप्पणि उस्सप्पणि कालच्चिय रहटघटियणाए।
होंति अणंताणंता भरहेरावद खिदिम्मि पुढं।। — तिलोयपण्णत्ति ४/१६१४
२१. यथा शुक्लं च कृष्णं च पक्षद्वयमनन्तरम्।
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरेवं क्रमसमुद्भवः।। —पद्मपुराण ३/७३
२२. कल्पसूत्र १९५
२३. आदिपुराण १/१७८
२४. आदिपुराण ३९/१४३
२५. महापुराण १८३/१६/३६२
२६. आवश्यकनिर्युक्ति पृ. २३५/१
२७. आवश्यकचूर्णि २१२—२१४
२८. त्रिषष्टी. १/६
२९. ऋग्वेदसंहिता १०/९०; ११,१२
३०. श्रीमद्भागवत ११/१७/१३, द्वितीय भाग पृ. ८०९
३१. पद्मपुराण ३/२८८
३२. हरिवंशपुराण ९/२०४
३३. ऋग्वेद १०/१३६/१
३४. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ३३७
३५. समवायांगसूत्र १५७
३६. भयवं पियामहो निराहारो....पडिलाहेइ सामिं खोयरसेणं।
३७. हरिवंशपुराण, सर्ग ९, श्लोक १८०—१९१
३८. श्री युगादिदेव पारणकपवित्रितायां वैशाखशुक्लपक्षतृतीयायां स्वपदे महाविस्तरेण स्थापिताः।
३९. त्रिषष्टिशलाका पु. च. १/३/३०१
४०. महापुराण, संधि ९, पु. १४८—१४९
४१. आवश्यकचूर्णि, २२१
४२. शिवपुराण, ५९
४३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४८/९१
४४. कल्पसूत्र १९९/५९
४५. त्रिषष्टि श.पु. च. १/६
४६. माघस्स किण्हि चोद्दसि पुव्वहे णिययजम्मणक्खत्ते अट्ठावयम्मि उसहो अजुदेण समं गओज्जोभि। —तिलोयपण्णत्ति
४७. महापुराण ३७/३
४८. माघे कृष्णचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि। शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः। तत्कालव्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिव्रते तिथिः। —ईशानसंहिता
४९. आवस्सक कामेंट्री, पृ. २४४
५०. आवश्यकनिर्युक्ति ३८२
५१. आवश्यकमलयगिरिवृत्ति, पृ. २१४
५२. आवश्यकनिर्युक्ति ३४२
५३. आवश्यकचूर्णि १८१
५४. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित १/३/५११—५१३
५५. चउपन्नमहापुरिसचरियं, शीलांक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५६.महापुराण २४/२/५७३
५७.(क) त्रिषष्टिशलाकपुरुष च. १/३/५/५१४
(ख) महापुराण २४/२/५७३
५८.महापुराण २४/६/५७३
५९.महापुराण २४/९/५७३
६०.रत्नानि स्वजातीयमध्ये समुत्कर्षवन्ति वस्तूनीति—समवायांगवृत्ति पृ. २७
६१.प्रवचनसारोद्धार गाथा १२१६—१२१७
६२.चक्रं छत्रं......पुंसस्तिर्यगृहस्तद्वयांगुलयोरंतरालम्। —प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, पत्र ३५१
६३.भरहस्स णं रन्नो.....उत्तरिल्लाए विज्जाहरसेढीए समुप्पन्ने।
६४.प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, पत्र ३५०—३५१ —आवश्यकचूर्णि पृ. २०८
६५.स्कन्धपुराण, काशीखण्ड, गंगा सहस्रनाम, अध्याय २९
६६.अमरकोश १/१०/३१
६७.जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार ४
६८.स्थानांग ५/३
६९.समवायांग २४वां समवाय
७०.जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार ४
७१.निशीथसूत्र १२/४२
७२.बृहत्कल्पसूत्र ४/३२
७३.स्थानांग ५/२/१
७४.निशीथ १२/४२
७५.बृहत्कल्प ४/३२
७६.(क) स्थानांगवृत्ति ५/२/१ (ख) बृहत्कल्पभाष्य टीका ५६१६
७७.स्कन्दपुराण, काशीखण्ड, अध्याय २९
७८.(क) त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र १/४
(ख) स्थानांगसूत्र ९/१९
(ग) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, भरतचक्रवर्ती अधिकार, वक्षस्कार ३
(घ) हरिवंशपुराण, सर्ग ११
(ड) माघनन्दी विरचित शास्त्रसारसमुच्चय, सूत्र १८, पृ. ५४
७९.स्थानांगवृत्ति, पत्र २२६
८०.जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार ३
८१.(क) आवश्यनिर्युक्ति ४३६ (ख) आवश्यकचूर्णि पृ. २२७
८२.जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग—३, पृ. २८९
८३.वही, भाग—३, पृ. ४१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org